© NCERT not to be republished

9 महिलाएँ, जाति एवं सुधार

क्या आपने कभी सोचा है कि दो सौ साल पहले बच्चों की ज़िंदगी कैसी रही होगी? आजकल मध्यवर्गीय परिवारों की ज़्यादातर लड़कियाँ स्कूल जाती हैं और उनमें से बहुत सारी लड़कों के साथ पढ़ती हैं। बड़ी होने पर उनमें से बहुत सारी लड़कियाँ कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जाती हैं और विभिन्न प्रकार की नौकरियाँ करती हैं। कानूनन शादी के लिए उनका बालिग होना ज़रूरी है और कानून के अनुसार, वे किसी भी जाति व समुदाय के व्यक्ति से शादी कर सकती हैं। यहाँ तक कि विधवाएँ भी दोबारा शादी कर सकती हैं। पुरुषों की तरह सभी महिलाएँ वोट डाल सकती हैं और चुनाव लड़ सकती हैं। बेशक, सभी महिलाएँ इन अधिकारों का उपभोग नहीं कर पातीं। गरीबों को शिक्षा के मौके मुश्किल से मिलते हैं, कम मिलते हैं या मिल ही नहीं पाते। बहुत सारे परिवारों में लड़कियाँ अपनी इच्छानुसार पति भी नहीं चुन सकतीं।

चित्र 1 – सती, बालथाज़र सॉल्विन द्वारा बनाया गया चित्र, 1813.

भारत आने वाले यूरोपीय चित्रकारों द्वारा बनाई गई सती की बहुत सारी तस्वीरों में से यह एक है। सती प्रथा को पूर्वी समाजों की बर्बरता के सबूत के तौर पर देखा जाता था।

दो सौ साल पहले हालात बहुत भिन्न थे। ज़्यादातर बच्चों की शादी बहुत कम उम्र में ही कर दी जाती थी। हिंदू व मुसलमान, दोनों धर्मों के पुरुष एक से ज़्यादा पत्नियाँ रख सकते थे। देश के कुछ भागों में विधवाओं से ये उम्मीद की जाती थी कि वे अपने पति की चिता के साथ ही जिंदा जल जाएँ। इस तरह स्वेच्छा से या जबरदस्ती मार दी गई महिलाओं को "सती" कहकर महिमामंडित किया जाता था। 'सती' शब्द का अर्थ ही सदाचारी महिला था। संपत्ति पर भी महिलाओं के अधिकार बहुत सीमित थे। शिक्षा तक महिलाओं की प्राय: कोई पहुँच नहीं थी। देश के बहुत सारे भागों में लोगों का विश्वास था कि अगर औरत पढ़ी-लिखी होगी तो वह जल्दी विधवा हो जाएगी।

समाज में सिर्फ स्त्रियों और पुरुषों के बीच ही फर्क नहीं था। ज़्यादातर इलाकों में लोग जातियों में भी बँटे हुए थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय खुद को "ऊँची जाति" का मानते थे। इसके बाद व्यापार और महाजनी आदि से जुड़ी जातियों (जिन्हें प्राय: वैश्य कहा जाता था) का स्थान आता था। फिर काश्तकार, बुनकर व कुम्हार जैसे दस्तकार आते थे (जिन्हें शूद्र कहा जाता था)। इस श्रेणीक्रम की सबसे निचली पायदान पर ऐसी जातियाँ थीं जो गाँवों-शहरों को साफ-सुथरा रखती थीं या ऐसे काम धंधे करती थीं जिन्हें ऊँची जातियों के लोग "दूषित कार्य" मानते थे यानी ऐसे काम जिनकी वजह से उनकी जाति 'भ्रष्ट' हो जाती थी। ऊँची जातियाँ निचले पायदान पर खड़ी इन जातियों के लोगों को "अछूत" मानती थीं। इन लोगों को मंदिरों में प्रवेश करने, सवर्ण जातियों के इस्तेमाल वाले कुओं से पानी निकालने या ऊँची जातियों के अधिपत्य वाले घाट-तालाबों पर नहाने की छूट नहीं होती थी। उन्हें निम्न दर्जे का मनुष्य माना जाता था।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के दौरान इनमें से बहुत सारे कायदे-कानून और नज़रिये धीरे-धीरे बदलते गए। आइए देखें कि ऐसा कैसे हुआ।

परिवर्तन की दिशा में उठते कदम

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही हमें सामाजिक रीति-रिवाज़ों और मूल्य-मान्यताओं से संबंधित बहस-मुबाहिसे और चर्चाओं का स्वरूप बदलता दिखाई देता है। इसकी एक अहम वजह यह थी कि संचार के नए तरीके विकसित हो रहे थे। पहली बार किताबें, अखबार, पत्रिकाएँ, पर्चे और पुस्तिकाएँ छप रही थीं। ये चीज़ें न केवल पुराने साधनों के मुकाबले सस्ती थीं बल्कि उन पांडुलिपियों के मुकाबले ज़्यादा लोगों की पहुँच में भी थीं जिनके बारे में आप कक्षा 7 में पढ़ चुके हैं। लिहाज़ा, आम लोग भी उन चीज़ों को पढ़ सकते थे। उनमें से बहुत सारे अपनी भाषाओं में लिख सकते थे और अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। नए शहरों में तमाम तरह के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक मुद्दों पर पुरुषों (और कभी-कभी महिलाओं) के बीच चर्चा होती रहती थी। ये चर्चाएँ आम जनता तक पहुँच सकती थीं और सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों से जुड़ी होती थीं।

इस तरह की बहसें अकसर भारतीय सुधारकों और सुधार संगठनों की तरफ से शुरू होती थीं। राजा राममोहन रॉय (1772-1833) इसी तरह के एक सुधारक थे। उन्होंने कलकत्ता में ब्रह्मो सभा के नाम से एक सुधारवादी संगठन बनाया था (जिसे बाद में ब्रह्मो समाज के नाम से जाना गया)। राममोहन रॉय जैसे लोगों को सुधारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे मानते थे कि समाज में परिवर्तन लाना और अन्यायपूर्ण तौर-तरीकों से छुटकारा पाना ज़रूरी है। उनका विचार था कि इस तरह के परिवर्तन लाने के लिए लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे पुराने व्यवहार को छोड़कर जीवन का नया ढंग अपनाने के लिए तैयार हों।

गतिविधि

क्या आप बता सकते हैं कि जब किताबें, समाचारपत्र और पर्चे आदि छापने की तकनीक नहीं थी उस समय सामाजिक रीति-रिवाज़ों और व्यवहारों के बारे में किस तरह चर्चा चलती होगी?

चित्र 2 – राजा राममोहन रॉय, रेमब्रांट पील द्वारा बनाया गया चित्र, 1833.

राममोहन रॉय देश में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार करने और महिलाओं के लिए ज़्यादा स्वतंत्रता व समानता के पक्षधर थे। उन्होंने इस बारे में लिखा है कि किस तरह महिलाओं को जबरन घरेलू कामों से बाँधकर रखा जाता था, उनकी दुनिया घर और रसोई तक ही सीमित कर दी जाती थी और उन्हें बाहर जाकर पढ़ने-लिखने की इजाज़त नहीं दी जाती थी।

विधवाओं की ज़िंदगी में बदलाव लाने की कोशिश

राममोहन रॉय इस बात से काफ़ी दुखी थे कि विधवा औरतों को अपनी ज़िंदगी में भारी कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सती प्रथा के खिलाफ़ मुहिम छेड़ी थी।

राममोहन रॉय संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य कई भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने लेखन के ज़रिए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन ग्रंथों में विधवाओं को जलाने की अनुमति कहीं नहीं दी गई है। जैसा कि आपने अध्याय 7 में पढ़ा है, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर भी भारतीय परंपराओं और रीति-रिवाज़ों की आलोचना करने लगे थे। वे राममोहन रॉय के विचारों को सही मानते थे क्योंकि उनकी एक विद्वान व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा थी। फलस्वरूप, 1829 में सती प्रथा पर पाबंदी लगा दी गई।

राममोहन रॉय ने इस अभियान के लिए जो रणनीति अपनाई उसे बाद के सुधारकों ने भी अपनाया। जब भी वे किसी हानिकारक प्रथा को चुनौती देना चाहते थे तो अकसर प्राचीन धार्मिक ग्रंथों से ऐसे श्लोक या वाक्य ढूँढ़ने का प्रयास करते थे जो उनकी सोच का समर्थन करते हों। इसके बाद वे दलील देते थे कि संबंधित वर्तमान रीति-रिवाज़ प्रारंभिक परंपरा के ख़िलाफ़ हैं।

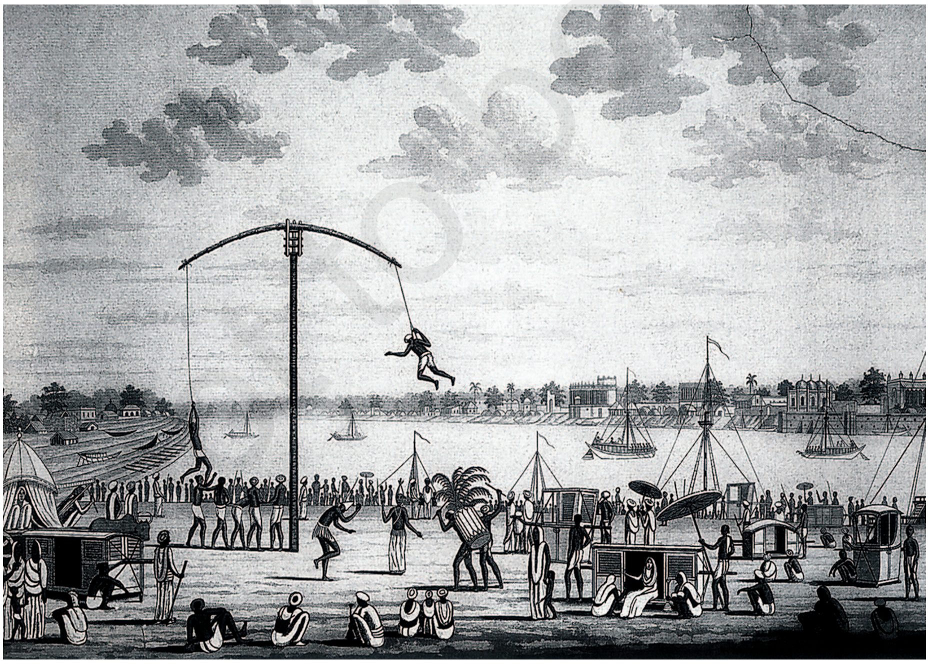

चित्र 3 – कुंडों पर झूलने का त्योहार।

इस लोकप्रिय त्योहार में भक्त पारंपरिक अनुष्ठानों के तहत अजीब तरह से कष्ट सहने का अभ्यास करते थे। वे अपनी खाल में कुंडा भेदकर एक झूले पर लटक जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब यूरोपीय अफ़सरों ने भारतीय रीति-रिवाज़ों और अनुष्ठानों को बर्बर कहकर उनकी आलोचना शुरू की तो इस त्योहार की खासतौर से आलोचना की गई।

स्रोत 1

"पहले हम उन्हें लकड़ियों में बाँध देते हैं"

राममोहन रॉय ने अपने विचारों का प्रसार करने के लिए बहुत सारे पर्चे लिखे थे। इनमें से कुछ पर्चे किसी खास रिवाज़ के समर्थक और आलोचकों के बीच बहस के रूप में लिखे गए थे। सती प्रथा के बारे में इसी तरह का एक उदाहरण देखिए:

सती समर्थक :

औरतें कुदरती तौर पर कम समझदार, बिना दृढ़ संकल्प वाली, भरोसे के योग्य नहीं होती हैं। ...उनमें से बहुत सारी खुद ही अपने पति की मृत्यु के बाद उसके साथ जाने की कामना करने लगती हैं; परंतु वे कहीं धधकती आग से भाग न निकलें, इसलिए पहले हम उन्हें चिता की लकड़ियों में कस कर बाँध देते हैं।

सती विरोधी :

आप लोगों ने महिलाओं को अपनी स्वाभाविक क्षमता का प्रदर्शन करने का सही मौका ही कब दिया? फिर भला तुम ये कैसे कह सकते हो कि उनमें समझ नहीं होती? अगर ज्ञान और शिक्षा के बाद भी कोई व्यक्ति न समझ सकता हो या पढ़ाई गई चीज़ों को ग्रहण न कर पाए तो हम उसे अक्षम मान सकते हैं; परंतु अगर तुम औरतों को पढ़ने का मौका ही नहीं दोगे तो तुम उन्हें कमतर कैसे कह सकते हो!

गतिविधि

ये संवाद 175 साल से भी ज़्यादा पहले के हैं। आपने भी अपने आसपास महिलाओं के महत्त्व और क्षमताओं के बारे में तरह-तरह के तर्क सुने होंगे। उन्हें लिखें। देखें कि तब और अब की दलीलों में क्या फर्क आया है?

उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी विधवा विवाह के पक्ष में प्राचीन ग्रंथों का ही हवाला दिया था। अंग्रेज़ सरकार ने उनका यह सुझाव मान लिया और 1856 में विधवा विवाह के पक्ष में एक कानून पारित कर दिया। जो विधवाओं के विवाह का विरोध करते थे उन्होंने विद्यासागर का भी विरोध किया और यहाँ तक कि उनका बहिष्कार कर दिया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक विधवा विवाह के पक्ष में चलाया जा रहा आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैल गया था। मद्रास प्रेज़ीडेंसी के तेलुगू भाषी इलाकों में वीरेशलिंगम पंतुलु ने विधवा विवाह के समर्थन में एक संगठन बनाया था। लगभग उसी समय बम्बई में युवा बुद्धिजीवियों और सुधारकों ने भी विधवा विवाह के प्रचार-प्रसार का संकल्प लिया। उत्तर में आर्य समाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी विधवा विवाह का समर्थन किया।

इसके बावजूद विवाह करने वाली विधवा महिलाओं की संख्या काफ़ी कम थी। विवाह करने वाली विधवाओं को समाज में आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता था। इस तरह, रूढ़िवादी तबके इस नए कानून का विरोध करते रहे।

चित्र 4 - स्वामी दयानंद सरस्वती।

दयानंद ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की थी। आर्य समाज ने हिंदू धर्म को सुधारने का प्रयास किया था।

© NCERT not to be republished

चित्र 5 – *ईश्वरचंद्र विद्यासागर।*

लड़कियाँ स्कूल जाने लगती हैं

बहुत सारे सुधारकों को लगता था कि महिलाओं की दशा सुधारने के लिए लड़कियों को शिक्षित करना ज़रूरी है।

कलकत्ता में विद्यासागर और बम्बई में बहुत सारे अन्य सुधारकों ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब इस तरह के प्रारंभिक स्कूल खुले तो बहुत सारे लोग उनसे डरते थे। लोगों को भय था कि स्कूल वाले लड़कियों को घर से निकाल ले जाएँगे और उन्हें घरेलू कामकाज नहीं करने देंगे। स्कूल जाने के लिए लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से गुजर कर जाना पड़ता था। बहुत सारे लोगों को लगता था कि इससे लड़कियाँ बिगड़ जाएँगी। उनकी मान्यता थी कि लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से दूर रहना चाहिए। फलस्वरूप, उन्नीसवीं सदी में पढ़ने-लिखने वाली ज़्यादातर महिलाओं को उनके उदार विचारों वाले पिता या पति की देखरेख में घर पर ही पढ़ाया जाता रहा। कई महिलाओं ने बिना किसी की मदद लिए खुद ही पढ़ना-लिखना सीखा। क्या आपको याद है पिछले साल की *सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन* पुस्तक में आपने राशसुंदरी देबी के बारे में क्या पढ़ा था? वे ऐसी महिलाओं में से थीं जिन्होंने रात में दीये की टिमटिमाती लौ में चोरी-छिपे ही लिखना-पढ़ना सीखा था।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी हिस्से में आर्य समाज द्वारा पंजाब में और ज्योतिराव फुले द्वारा महाराष्ट्र में लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए।

उत्तर भारत के कुलीन मुसलिम परिवारों की महिलाएँ अरबी में क़ुरान शरीफ़ पढ़ना सीखने लगीं। उन्हें घर पर ही पढ़ाने के लिए शिक्षिकाएँ रखी जाती थीं। इस स्थिति को देखते हुए मुमताज़ अली जैसे कुछ सुधारकों ने क़ुरान शरीफ़ की आयतों का हवाला देकर कहा कि महिलाओं को भी शिक्षा का अधिकार मिलना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के आख़िर से ही उर्दू में उपन्यासों का सिलसिला शुरू हुआ। इन उपन्यासों में महिलाओं को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता था कि वे धर्म और घरेलू साज-सँभाल के बारे में पढ़ें।

चित्र 6 – *हिंदू महाविद्यालय की छात्राएँ, 1875.*

उन्नीसवीं शताब्दी में जब लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए तो आमतौर पर माना जाता था कि लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई लड़कों की पढ़ाई-लिखाई से कम सख्त होनी चाहिए। हिंदू महिला विद्यालय ऐसे शुरुआती संस्थानों में से था जहाँ वही शिक्षा दी जाती थी जो उस समय लड़कों को दी जा रही थी।

महिलाओं के बारे में महिलाएँ लिखने लगीं

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही बहुत सारी मुसलिम महिलाओं ने महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अहम भूमिका अदा की। जैसे, भोपाल की बेगमों ने अलीगढ़ में लड़कियों के लिए प्राथमिक स्कूल खोला। बेगम रुकैया सख़ावत हुसैन भी इस दौर की एक प्रभावशाली महिला थीं जिन्होंने कलकत्ता और पटना में मुसलिम लड़कियों के लिए स्कूल खोले। वह रूढ़िवादी विचारों की कटु

आलोचक थीं और उनका मानना था कि प्रत्येक धर्म के धार्मिक नेताओं ने औरतों को निचले दर्जे में रखा है।

1880 के दशक तक आते-आते भारतीय महिलाएँ विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने लगी थीं। उनमें से कुछ चिकित्सक और कुछ शिक्षिका बन गईं। बहुत सारी महिलाएँ लिखने लगीं और उन्होंने समाज में महिलाओं की स्थिति पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए। पूना में घर पर ही रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाली ताराबाई शिंदे ने *स्त्रीपुरुषतुलना* नाम से एक किताब प्रकाशित की जिसमें पुरुषों और महिलाओं के बीच मौजूद सामाजिक फर्कों की आलोचना की गई थी।

चित्र 7 – पंडिता रमाबाई।

संस्कृत की महान विद्वान पंडिता रमाबाई का मानना था कि हिंदू धर्म महिलाओं का दमन करता है। उन्होंने ऊँची जातियों की हिंदू महिलाओं की दुर्दशा पर एक किताब भी लिखी थी। उन्होंने पूना में एक विधवागृह की स्थापना की जहाँ ससुराल वालों के हाथों अत्याचार झेल रही महिलाओं को पनाह दी जाती थी। वहाँ महिलाओं को ऐसी चीज़ें सिखाई जाती थीं जिनके सहारे वे अपनी रोज़ी-रोटी चला सकें।

ज़ाहिर है कि इन सब बातों से रूढ़िवादी खेमे के लोग काफ़ी आग-बबूला हुए। उदाहरण के लिए, बहुत सारे हिंदू राष्ट्रवादियों को लगने लगा था कि हिंदू महिलाएँ पश्चिमी तौर-तरीके अपना रही हैं जिससे हिंदू संस्कृति भ्रष्ट होगी और पारिवारिक संस्कार नष्ट हो जाएँगे। रूढ़िवादी मुसलमान भी इन बदलावों के नतीजों को लेकर चिंतित थे।

जैसा कि आप देख सकते हैं, उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक खुद महिलाएँ भी सुधारों के लिए बढ़-चढ़ कर प्रयास करने लगी थीं। उन्होंने किताबें लिखीं, पत्रिकाएँ निकालीं, स्कूल और प्रशिक्षण केंद्र खोले तथा महिलाओं को संगठित किया। बीसवीं सदी की शुरुआत से वे महिलाओं को मताधिकार, बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ और शिक्षा के अधिकार के बारे में कानून बनवाने के लिए राजनीतिक दबाव समूह बनाने लगी थीं। उनमें से कुछ महिलाओं ने 1920 के दशक के बाद विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादी और समाजवादी आंदोलनों में हिस्सा भी लिया।

बीसवीं शताब्दी में, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे नेताओं ने महिलाओं के लिए और अधिक स्वतंत्रता व समानता की माँगों का समर्थन किया। राष्ट्रीय नेताओं ने आश्वासन दिया कि स्वतंत्रता मिलने पर सभी पुरुषों व महिलाओं को वोट डालने का अधिकार दे दिया जाएगा। परंतु उनका आह्वान था कि जब तक स्वतंत्रता नहीं मिल जाती तब तक महिलाओं को अंग्रेज़ी राज विरोधी संघर्ष में ही ज़ोर लगाना चाहिए।

स्रोत 2

जब औरत का पति मर जाता है...

अपनी पुस्तक *स्त्रीपुरुषतुलना* में ताराबाई शिंदे ने लिखा था :

क्या औरत को अपनी ज़िंदगी उतनी ही प्यारी नहीं होती जितनी कि तुम्हें तुम्हारी ज़िंदगी प्यारी है? ये तो कुछ ऐसी बात हो गई मानो महिलाएँ पुरुषों से बिलकुल अलग चीज़ों से बनी हों, मानो वे धूल या चट्टानों या ज़ंग लगे लोहे से बनी हों और तुम व तुम्हारी ज़िंदगी शुद्ध सोने की बनी हो। ...तुम मुझसे पूछते हो कि मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब यह है कि जब औरत का पति मर जाता है, ...तो उसका क्या हश्र होता है? नाई आता है और उसके लहराते बाल साफ कर देता है, सिर्फ इसलिए कि तुम्हारी आँखों को ठंडक पड़ जाए। ...उसे शादी-ब्याह, आवोभगत और उन शुभ अवसरों से बहिष्कृत कर दिया जाता है जहाँ विवाहित महिलाएँ जाती हैं। और भला इन पाबंदियों की वजह क्या है? क्योंकि उसका पति मर चुका है। वह अभागी है : दुर्भाग्य उसके माथे पर खुदा हुआ है। उसका चेहरा देखा नहीं जाता, यह अशुभ होता है।

ताराबाई शिंदे, *स्त्रीपुरुषतुलना*

बाल विवाह के विरुद्ध कानून

महिला संगठनों के विकास तथा इन मुद्दों पर हो रहे लेखन की वजह से सुधारों के पक्ष में आवाज़ और मजबूत हुई। लोग बाल विवाह जैसी स्थापित परंपराओं को चुनौती देने लगे। केन्द्रीय विधान सभा में बहुत सारे सांसद थे जिन्होंने बाल विवाह पर पाबंदी हेतु कानून बनाने के लिए संघर्ष किया। 1929 में बाल विवाह निषेध अधिनियम पारित किया गया। इस कानून के बारे में वैसी कड़वी बहसें और संघर्ष नहीं हुए जैसे पुराने सुधारवादी कानूनों के बारे में हुए थे। इस कानून के अनुसार 18 साल से कम उम्र के लड़के और 16 साल से कम उम्र की लड़की की शादी नहीं की जा सकती। बाद में, यह उम्र बढ़ाकर क्रमशः 21 साल व 18 साल कर दी गई।

चित्र 8 *- आठ साल की दुल्हन।*

यह बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में एक बाल वधू का चित्र है। क्या आपको पता है कि आज भी हमारे देश में 20 प्रतिशत से ज्यादा लड़कियों की शादी 18 साल से पहले ही हो जाती है?

जाति और समाज सुधार

हमने अभी जिन समाज सुधारकों का जिक्र किया है उनमें से कई जातीय गैर-बराबरी के भी विरोधी थे। राममोहन रॉय ने जाति व्यवस्था की आलोचना करने वाले एक पुराने बौद्ध ग्रंथ का अनुवाद किया। प्रार्थना समाज भक्ति परंपरा का समर्थक था जिसमें सभी जातियों की आध्यात्मिक समानता पर ज़ोर दिया गया था। जाति उन्मूलन के लिए काम करने के लिए बम्बई में 1840 में परमहंस मंडली का गठन किया गया। इन सुधारकों और सुधार संगठनों के सदस्यों में से बहुत सारे ऊँची जातियों के लोग थे। गुप्त बैठकों में ये सुधारक भोजन और स्पर्श जैसे मामलों में जातीय कायदे-कानूनों का उल्लंघन करते थे जिससे अपने जीवन में भी जातीय पूर्वाग्रहों और बंधनों से निजात पा सकें।

कई लोग ऐसे थे जो जाति आधारित समाज व्यवस्था में होने वाले अन्याय के विरुद्ध थे। उन्नीसवीं सदी में ईसाई प्रचारक आदिवासी समुदायों और "निचली" जातियों के बच्चों के लिए स्कूल खोलने लगे थे। इस प्रकार, इन बच्चों को बदलती दुनिया में अपना रास्ता ढूँढ़ने के नए साधन मिलने लगे थे।

उसी समय बहुत सारे गरीब लोग शहरों में निकल रही नई नौकरियों की तलाश में गाँव छोड़कर भी जा रहे थे। नए कारखानों और नगरपालिकाओं में नई नौकरियाँ निकल रही थीं। अध्याय 6 में आप शहरों के विस्तार के बारे

© NCERT not to be republished

में पढ़ चुके हैं। कल्पना कीजिए कि इससे मज़दूरी की कितनी माँग पैदा हुई होगी। शहरों में नालियाँ बनाई जानी थीं, सड़कें बिछनी थीं, इमारतों का निर्माण होना था और शहरों को साफ किया जाना था। इसके लिए कुलियों, खुदाई करने वालों, बोझा ढोने वालों, ईंट बनाने वालों, नालियाँ साफ करने वालों, सफाईकर्मियों, पालकी ढोने वालों, रिक्शा खींचने वालों की ज़रूरत थी। यह श्रम कहाँ से आया? इन कामों को सँभालने के लिए गाँवों और छोटे कस्बों के गरीब शहरों की तरफ जाने लगे जहाँ मज़दूरी की माँग पैदा हो रही थी। शहर जाने वालों में से बहुत सारे ''निम्न'' जातियों के लोग भी थे। कुछ लोग असम, मॉरिशस, त्रिनीदाद और इंडोनेशिया आदि स्थानों पर बागानों में काम करने भी चले गए। नए स्थानों पर काम अकसर बहुत कठोर था। परंतु गरीबों, निचली जातियों के लोगों को यह गाँवों में सवर्ण ज़मींदारों द्वारा उनके जीवन पर दमनकारी कब्ज़े और दैनिक अपमान से छूट निकलने का एक मौका था।

चित्र 9 *– एक कुली जहाज़, उन्नीसवीं शताब्दी।*

जॉन एलेन नामक इस कुली जहाज़ के द्वारा भारतीय मजदूरों को मॉरिशस ले जाया जाता था जहाँ उन्हें तरह-तरह के कठोर काम करने पड़ते थे। इनमें से ज़्यादातर मज़दूर निचली जातियों के होते थे।

जूते कौन बना सकता है?

चमड़े का काम करने वालों को परंपरागत रूप से नीची नज़र से देखा जाता है क्योंकि वे मृत पशुओं का चमड़ा निकालते हैं जिन्हें गंदा व दूषित माना जाता है। पहले विश्व युद्ध के दौरान सेना के लिए जूतों की जबरदस्त माँग पैदा हो गई थी। परंतु चमड़े के कामों के प्रति जातीय पूर्वाग्रहों की वजह से केवल परंपरागत चमड़ा कामगार और मोची ही जूते तैयार कर सकते थे। लिहाज़ा, वे ज़्यादा कीमत की माँग करने लगे और उन्हें काफ़ी लाभ हुआ।

चित्र 10 *– जूते बनाते मदिगा समुदाय के लोग, उन्नीसवीं शताब्दी, आंध्र प्रदेश।*

मौजूदा आंध्र प्रदेश में मदिगा एक महत्वपूर्ण "अछूत" जाति रही है। वे पशुओं के शवों को साफ करने, चमड़ा तैयार करने और चप्पल-जूतियाँ सींने में माहिर थे।

इसके अलावा दूसरी तरह की नौकरियाँ भी सामने आ रही थीं। उदाहरण के लिए सेना में भी लोगों की ज़रूरत बढ़ गई थी। अछूत माने जाने वाले महार समुदाय के बहुत सारे लोगों को महार रेजीमेंट में नौकरी मिल गई। दलित आंदोलन के नेता बी.आर. अम्बेडकर के पिता एक सैनिक स्कूल में ही पढ़ाते थे।

कक्षा में जगह नहीं

बम्बई प्रेज़ीडेंसी में 1829 में भी अछूतों को सरकारी स्कूलों में घुसने नहीं दिया जाता था। जब उन्होंने इस अधिकार के लिए सख्ती से आवाज़ उठाई तो उन्हें कक्षा के बाहर बरामदे में बैठकर सबक सुनने की इजाज़त दे दी गई ताकि वे कमरे को "दूषित" न कर सकें जहाँ ऊँची जाति के लड़कों को पढ़ाया जाता था।

चित्र 11 – गुजरात के दुबला समुदाय के लोग बाज़ार के लिए आम ढोकर ले जा रहे हैं।

दुबला मज़दूर सवर्ण ज़मींदारों के पास मज़दूरी करते थे। वे उनके खेत सँभालते थे और जमींदार के घर-आँगन में तमाम छोटे-बड़े काम करते थे।

गतिविधि

1. कल्पना कीजिए कि आप स्कूल के बरामदे में बैठकर कक्षा में पढ़ाए जा रहे सबक सुन रहे हैं। तब आपके दिमाग में किस तरह के सवाल पैदा होंगे?
2. कुछ लोगों को लगता था कि अछूतों को शिक्षा से पूरी तरह वंचित रखने के मुकाबले यह स्थिति फिर भी बेहतर थी। क्या आप इस राय से सहमत हैं?

समानता और न्याय की माँग

उन्नीसवीं सदी के दूसरे हिस्से तक गैर-ब्राह्मण जातियों के भीतर से भी लोग जातीय भेदभाव के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने लगे थे। उन्होंने सामाजिक समानता और न्याय की माँग करते हुए आंदोलन शुरू कर दिए थे।

मध्य भारत में सतनामी आंदोलन की शुरुआत घासीदास ने की, जिन्होंने चमड़े का काम करने वालों को संगठित किया और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए आंदोलन छेड़ दिया। पूर्वी बंगाल में हरिदास ठाकुर के मतुआ पंथ ने चांडाल काश्तकारों के बीच काम किया। हरिदास ने जाति व्यवस्था को सही ठहराने वाले ब्राह्मणवादी ग्रंथों पर सवाल उठाया। जिसे आज केरल कहा जाता है, वहाँ ऐझावा जाति के श्री नारायण गुरु ने अपने लोगों के बीच एकता का आदर्श रखा। उन्होंने जातिगत भिन्नता के आधार पर लोगों के बीच भेदभाव करने का विरोध किया। उनके अनुसार सारी मानवता की एक ही जाति है। उनका एक महत्वपूर्ण कथन था– 'ओरु जाति, ओरु मतम्, ओरु दैवम मनुष्यानु' (मानवता की एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर)।

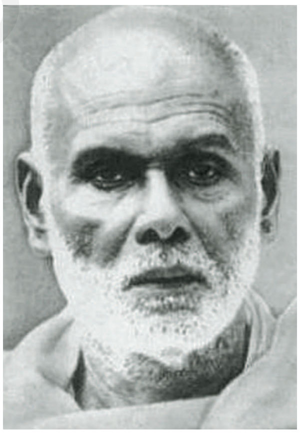

चित्र 12 – श्री नारायण गुरु

इन सभी पंथों की स्थापना ऐसे लोगों ने की थी जो गैर-ब्राह्मण जातियों से थे और उनके बीच ही काम करते थे। उन्होंने उन आदतों और तौर-तरीकों को बदलने का प्रयास किया जो प्रभुत्वशाली जातियों का अपमान करने के लिए उकसाती थीं। उन्होंने अधीनस्थ जातियों में स्वाभिमान का भाव पैदा करने का प्रयास किया।

© NCERT not to be republished

गुलामगीरी

"निम्न जाति" नेताओं में ज्योतिराव फुले सबसे मुखर नेताओं में से थे। 1827 में जन्मे ज्योतिराव फुले ने ईसाई प्रचारकों द्वारा खोले गए स्कूलों में शिक्षा पाई थी। बड़े होने पर उन्होंने जाति आधारित समाज में फैले अन्याय के बारे में अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने ब्राह्मणों के इस दावे पर खुलकर हमला बोला कि आर्य होने के कारण वे औरों से श्रेष्ठ हैं। फुले का तर्क था कि आर्य विदेशी थे, जो उपमहाद्वीप के बाहर से आए थे और उन्होंने इस मिट्टी के असली वारिसों – आर्यों के आने से पहले यहाँ रह रहे मूल निवासियों – को हराकर उन्हें गुलाम बना लिया था। जब आर्यों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तो वे पराजित जनता को नीच, निम्न जाति वाला मानने लगे। फुले के अनुसार, "ऊँची" जातियों का उनकी ज़मीन और सत्ता पर कोई अधिकार नहीं है : यह धरती यहाँ के देशी लोगों की, कथित निम्न जाति के लोगों की है।

चित्र 13 – *ज्योतिराव फुले।*

फुले ने दावा किया कि आर्यों के शासन से पहले यहाँ स्वर्ण युग था। तब योद्धा-किसान ज़मीन जोतते थे और मराठा देहात पर न्यायसंगत और निष्पक्ष तरीके से शासन करते थे। उन्होंने सुझाव दिया कि शूद्रों (श्रमिक जातियाँ) और अतिशूद्रों (अछूत) को जातीय भेदभाव खत्म करने के लिए संगठित होना चाहिए। फुले द्वारा स्थापित किए गए सत्यशोधक समाज नामक संगठन ने जातीय समानता के समर्थन में मुहिम चलाई।

स्रोत 3

"मैं यहाँ और तुम वहाँ"

फुले उच्च जाति नेताओं के उपनिवेशवाद-विरोधी राष्ट्रवाद के भी आलोचक थे। उन्होंने लिखा था :

> ब्राह्मणों ने अपने धर्म की वह तलवार छिपा ली है जिसने लोगों की संपन्नता का गला काट दिया है और अब वे देश के महान देशभक्त बने घूम रहे हैं। वे... हमारे शूद्र, मुसलिम और पारसी नौजवानों को... ये सलाह देते हैं... कि अगर हम ऊँच-नीच के बारे में अपना सारा लड़ाई-झगड़ा बंद करके एकजुट नहीं होंगे तो हमारा... देश कभी उन्नति नहीं कर पाएगा...। यह एकता उन्हीं के फायदे में है क्योंकि इसके बाद दोबारा यही स्थिति पैदा हो जाएगी – मैं यहाँ और तुम वहाँ।

ज्योतिराव फुले, काश्तकार की चाबुक (शेतकऱ्याचा आसूड़)

गतिविधि

स्रोत 3 को ध्यान से पढ़ें। "मैं यहाँ और तुम वहाँ" से ज्योतिराव फुले का क्या आशय था?

1873 में फुले ने *गुलामगीरी* (गुलामी) नामक एक किताब लिखी। इससे लगभग दस साल पहले अमेरिकी गृह युद्ध हो चुका था जिसके फलस्वरूप अमरीका में दास प्रथा खत्म कर दी गई थी। फुले ने अपनी पुस्तक उन सभी अमरीकियों को समर्पित की जिन्होंने गुलामों को मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष

© NCERT not to be republished

स्रोत 4

"हम भी इनसान हैं"

1927 में अम्बेडकर ने कहा था :

अब हम सिर्फ़ ये साबित करने के लिए तालाब पर जाना चाहते हैं कि औरों की तरह हम भी इनसान हैं...। हिंदू समाज का दो मुख्य सिद्धांतों – समानता और जातिवाद की समाप्ति – पर पुनर्गठन किया जाना चाहिए।

किया था। इस तरह उन्होंने भारत की "निम्न" जातियों और अमरीका के काले गुलामों की दुर्दशा को एक-दूसरे से जोड़ दिया।

जैसा कि इस उदाहरण से पता चलता है, फुले ने जाति व्यवस्था की अपनी आलोचना को सभी प्रकार की गैर-बराबरी से जोड़ दिया था। वह "उच्च" जाति महिलाओं की दुर्दशा, मज़दूरों की मुसीबतों और "निम्न" जातियों के अपमानपूर्ण हालात के बारे में गहरे तौर पर चिंतित थे। जाति सुधार का यह आंदोलन बीसवीं सदी में भी पश्चिम भारत में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर और दक्षिण में ई.वी. रामास्वामी नायकर जैसे महान दलित नेताओं के नेतृत्व में चलता रहा।

मंदिरों में कौन जा सकता था?

अम्बेडकर एक महार परिवार में पैदा हुए थे। बचपन में उन्होंने इस बात को बहुत नज़दीक से देखा था कि रोज़ाना की ज़िंदगी में जातीय भेदभाव और पूर्वाग्रह क्या होता है। स्कूल में उन्हें कक्षा के बाहर ज़मीन पर बैठना पड़ता था। उन्हें सवर्ण बच्चों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले नलकों से पानी पीने की इजाज़त नहीं थी। स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद उन्हें उच्च अध्ययन के लिए अमरीका जाने हेतु फ़ैलोशिप मिल गई थी। 1919 में भारत लौटने पर उन्होंने समकालीन समाज में "उच्च" जातीय सत्ता संरचना पर काफ़ी लिखा।

सन् 1927 में अम्बेडकर ने मंदिर प्रवेश आंदोलन शुरू किया जिसमें महार जाति के लोगों ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। ब्राह्मण पुजारी इस बात पर बहुत आग-बबूला हुए कि दलित भी मंदिर के जलाशय का पानी इस्तेमाल कर रहे हैं।

1927 से 1935 के बीच अम्बेडकर ने मंदिरों में प्रवेश के लिए ऐसे तीन आंदोलन चलाए। वह पूरे देश को दिखाना चाहते थे कि समाज में जातीय पूर्वाग्रहों की जकड़ कितनी मजबूत है।

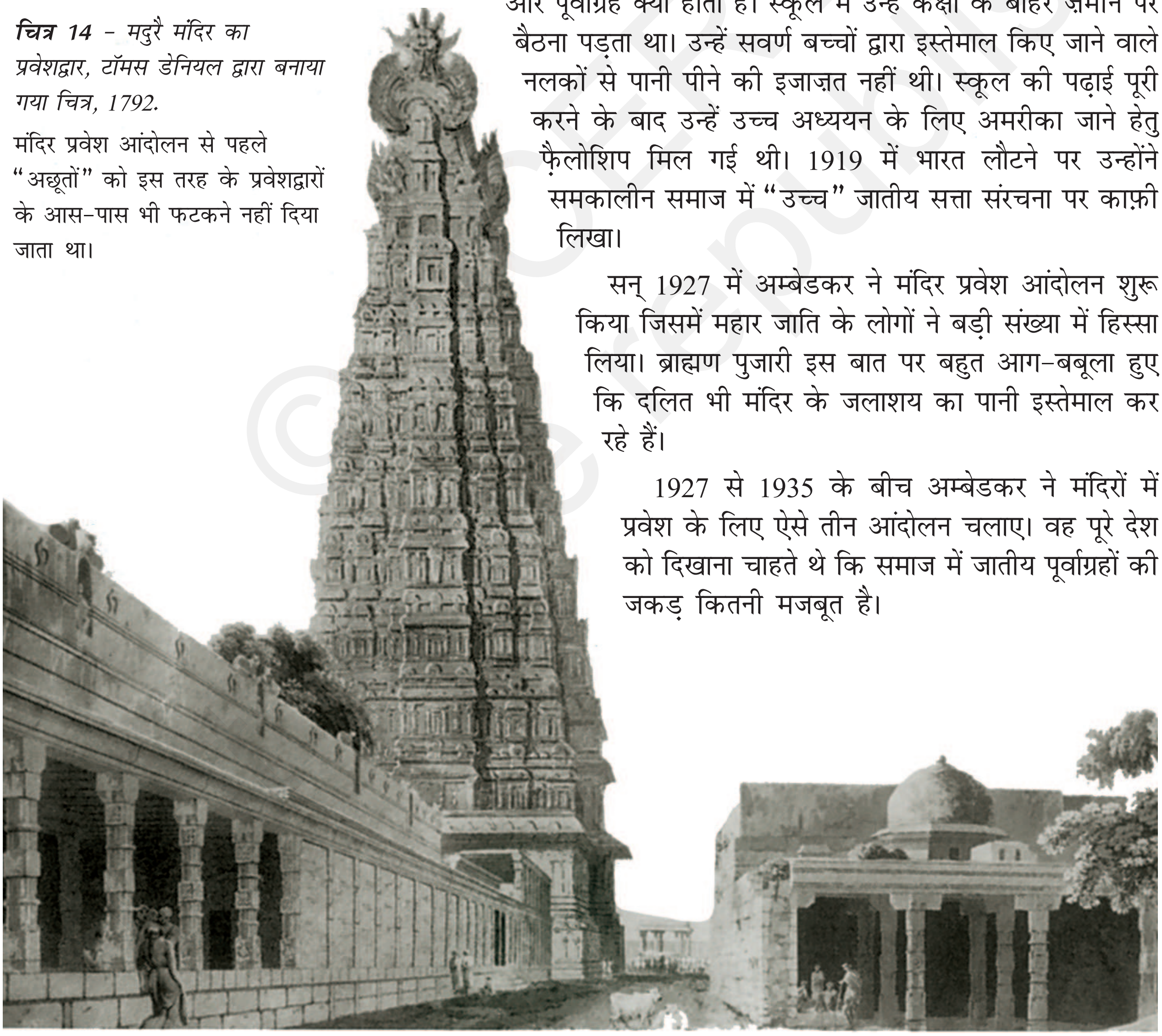

चित्र 14 – मदुरै मंदिर का प्रवेशद्वार, टॉमस डेनियल द्वारा बनाया गया चित्र, 1792.

मंदिर प्रवेश आंदोलन से पहले "अछूतों" को इस तरह के प्रवेशद्वारों के आस-पास भी फटकने नहीं दिया जाता था।

गैर-ब्राह्मण आंदोलन

बीसवीं सदी के आरंभ में गैर-ब्राह्मण आंदोलन शुरू हुआ। यह प्रयास उन गैर-ब्राह्मण जातियों का था जिन्हें शिक्षा, धन और प्रभाव हासिल हो चुका था। उनका तर्क था कि ब्राह्मण तो उत्तर से आए उन आर्य आक्रमणकारियों के वंशज हैं जिन्होंने यहाँ के मूल निवासियों – देशी द्रविड़ नस्लों – को हराकर दक्षिणी भूभाग पर विजय हासिल की थी। उन्होंने सत्ता पर ब्राह्मणवादी दावे को भी चुनौती दी।

पेरियार के नाम से प्रसिद्ध ई.वी. रामास्वामी नायकर एक मध्यवर्गीय परिवार में पले-बढ़े थे। अपने प्रारंभिक जीवन में वे संन्यासी थे और उन्होंने संस्कृत शास्त्रों का गंभीरता से अध्ययन किया था। बाद में वे कांग्रेस के सदस्य बने परंतु जब उन्होंने राष्ट्रवादियों द्वारा आयोजित की गई एक दावत में देखा कि वहाँ बैठने के लिए जातियों के हिसाब से अलग-अलग इंतज़ाम किया हुआ है तो उन्होंने हताश होकर पार्टी छोड़ दी। इस दावत में निम्न जातियों और उच्च जातियों के लिए अलग-अलग बैठने का इंतजाम किया गया था। पेरियार की समझ में आ चुका था कि "अछूतों" को अपने स्वाभिमान के लिए खुद लड़ना होगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने स्वाभिमान आंदोलन शुरू किया। उनका कहना था कि मूल तमिल और द्रविड़ संस्कृति के असली वाहक अछूत ही हैं जिन्हें ब्राह्मणों ने अपने अधीन कर लिया है। उनका मानना था कि सभी धार्मिक नेता और मुखिया सामाजिक विभाजनों और असमानता को ईश्वरप्रदत्त मानते हैं इसलिए सामाजिक समानता के लिए सभी धर्मों से अछूतों को खुद मुक्ति पानी होगी।

पेरियार हिंदू वेद पुराणों के कट्टर आलोचक थे। खासतौर से मनु द्वारा रचित संहिता, *भगवदगीता* और *रामायण* के वे कटु आलोचक थे। उनका कहना था कि ब्राह्मणों ने निचली जातियों पर अपनी सत्ता तथा महिलाओं पर पुरुषों का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए इन पुस्तकों का सहारा लिया है।

ये दलीलें लोगों को सहज रास नहीं आईं। निम्न जातीय नेताओं के भाषणों, विचारपूर्ण लेखन और आंदोलनों से उच्च जातीय राष्ट्रवादी नेताओं के बीच कुछ आत्ममंथन और आत्मालोचना की प्रक्रिया शुरू हुई। परंतु, रूढ़िवादी हिंदू समाज ने भी उत्तर में सनातन धर्म सभाओं तथा भारत धर्म महामंडल और बंगाल में ब्राह्मण सभा जैसे संगठनों के ज़रिए इन रुझानों का सख्ती से विरोध किया। इन संगठनों का मकसद यही था कि हिंदू धर्म में जातीय ऊँच-नीच को जो महत्व दिया जाता है उस पर कोई आँच न आए। वे साबित करना चाहते थे कि इस बात को धार्मिक ग्रंथों में भी मान्यता मिली हुई है। औपनिवेशिक काल के बाद भी जाति के सवाल पर बहस और संघर्ष चलते रहे और ये आज भी जारी हैं।

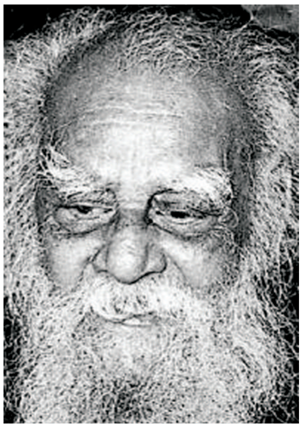

चित्र 15 – ई.वी. रामास्वामी नायकर (पेरियार)।

स्रोत 5

महिलाओं के बारे में पेरियार

पेरियार ने लिखा था :

> तारा मुकुर्तम जैसे शब्दों के आगमन के बाद हमारी महिलाएँ अपने पतियों के हाथों की कठपुतली बन गई थीं...। हमें ऐसे पिताओं के संरक्षण में जीना पड़ा जो अपनी बेटियों को सलाह देते हैं... कि उन्हें पतियों को उपहार में दिया जा चुका है और अब वे अपने पति के घर का हिस्सा हैं। यह... संस्कृत के साथ हमारी घनिष्ठता का परिणाम है।

पेरियार द्वारा रचित
पेरियार चिंतानाइकल *से उद्धृत*

गतिविधि

आज भी जाति इतना विवादास्पद मुद्दा क्यों बनी हुई है? औपनिवेशिक काल में जाति के विरुद्ध सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन कौन सा था?

सुधारों के लिए संगठित होना

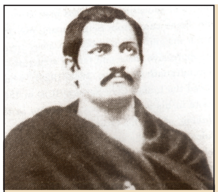

चित्र 16 – केशब चंद्र सेन ब्रह्मो समाज के मुख्य नेताओं में से एक थे।

ब्रह्मो समाज

ब्रह्मो समाज की स्थापना 1830 में की गई थी। यह संस्था सभी प्रकार की मूर्ति पूजा और बलि के विरुद्ध थी और इसके अनुयायी उपनिषदों में विश्वास रखते थे। इसके सदस्यों को अन्य धार्मिक प्रथाओं या परंपराओं की आलोचना करने का अधिकार नहीं था। ब्रह्मो समाज ने विभिन्न धर्मों के आदर्शों – खास तौर से हिंदुत्व और ईसाई धर्म – के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए उनके नकारात्मक और सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला।

चित्र 17 – हेनरी डेरोज़ियो।

डेरोज़ियो एवं यंग बंगाल

1820 के दशक में हेनरी लुई विवियन डेरोज़ियो हिंदू कॉलेज, कलकत्ता में अध्यापक थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को आमूल परिवर्तनकारी विचारों से अवगत कराया और उन्हें तमाम तरह की सत्ता पर सवाल खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके द्वारा शुरू की गई यंग बंगाल मूवमेंट में उनके विद्यार्थियों ने परंपराओं और रीति-रिवाज़ों पर उँगली उठाई, महिलाओं के लिए शिक्षा की माँग की और सोच व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए अभियान चलाया।

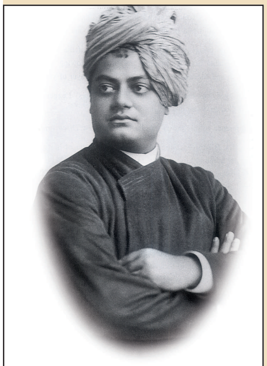

चित्र 18 – स्वामी विवेकानंद।

रामकृष्ण मिशन और विवेकानंद

रामकृष्ण मिशन का नाम स्वामी विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस के नाम पर रखा गया था। यह मिशन समाज सेवा और निस्वार्थ श्रम के ज़रिए मुक्ति के लक्ष्य पर ज़ोर देता था

प्रार्थना समाज

1867 में बम्बई में स्थापित प्रार्थना समाज ने जातीय बंधनों को खत्म करने और बाल विवाह के उन्मूलन के लिए प्रयास किया। प्रार्थना समाज ने महिलाओं की शिक्षा को प्रोत्साहित किया और विधवा विवाह पर लगी पाबंदी के खिलाफ आवाज़ उठाई। उसकी धार्मिक बैठकों में हिंदू, बौद्ध और ईसाई ग्रंथों पर विचार-विमर्श किया जाता था।

वेद समाज

मद्रास (चेन्नई) में 1864 में वेद समाज की स्थापना हुई। वेद समाज ब्रह्मो समाज से प्रेरित था। वेद समाज ने जातीय भेदभाव को समाप्त करने और विधवा विवाह तथा महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए काम किया। इसके सदस्य एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। उन्होंने रूढ़िवादी हिंदुत्व के अंधविश्वासों और अनुष्ठानों की सख्त निंदा की।

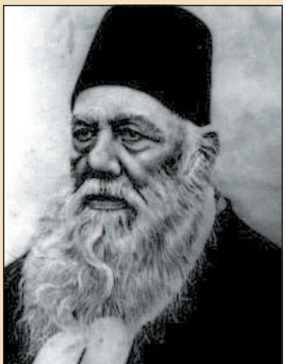

चित्र 19 – सैय्यद अहमद खाँ।

अलीगढ़ आंदोलन

सैय्यद अहमद खाँ द्वारा 1875 में अलीगढ़ में खोले गए मोहम्मदन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज को ही बाद में अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के नाम से जाना गया। यहाँ मुसलमानों को पश्चिमी विज्ञान के साथ-साथ विभिन्न विषयों की आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। अलीगढ़ आंदोलन का शैक्षणिक सुधारों के क्षेत्र में गहरा प्रभाव रहा है।

सिंह सभा आंदोलन

सिखों के सुधारवादी संगठन के रूप में सिंह सभाओं की स्थापना 1873 में अमृतसर से शुरू हुई थी। बाद में 1879 में लाहौर में भी सिंह सभा का गठन किया गया। इन सभाओं ने सिख धर्म को अंधविश्वासों, जातीय भेदभाव और ऐसे आचरण जिसे वे गैर-सिख समझती थीं, से मुक्त कराने का प्रयास किया। उन्होंने सिखों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जिसमें अकसर आधुनिक ज्ञान के साथ-साथ सिख धर्म के सिद्धांतों को भी पढ़ाया जाता था।

चित्र 20 – खालसा कॉलेज, अमृतसर। 1892 में सिख सभा आंदोलन के नेताओं द्वारा स्थापित किया गया।

© NCERT not to be republished

अन्यत्र

काले गुलाम और गोरे बागान मालिक

आप यह जान चुके हैं कि ज्योतिराव फुले ने अपनी पुस्तक *गुलामगीरी* में जातीय उत्पीड़न और अमरीका में प्रचलित दास प्रथा के बीच किस तरह संबंध स्थापित किया था। क्या आप जानते हैं कि दासता की यह प्रथा क्या थी?

सत्रहवीं शताब्दी में जब यूरोपीय खोजी यात्री और व्यापारी पहली बार अफ़्रीका पहुँचे तो उन्होंने गुलामों का व्यापार शुरू कर दिया। वे अफ़्रीका के काले लोगों को पकड़कर अमरीका ले आते थे और वहाँ के गोरे बागान मालिकों को बेच देते थे। उन्हें कपास और अन्य बागानों में काम करना पड़ता था जो ज़्यादातर दक्षिणी संयुक्त राज्य अमरीका में स्थित थे। बागानों में ये गुलाम पौ फटने से लेकर देर रात तक काम करते थे। "सही ढंग से काम न करने" के नाम पर मालिक उन्हें सजा देते थे, कोड़ों से पीटते थे और तरह-तरह की यातनाएँ देते थे।

चित्र 21 – गुलामों की बिक्री, दक्षिणी केरोलिना, अमरीका, 1856
यहाँ संभावित खरीददार नीलामी में अफ़्रीका से लाए गए गुलामों की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं।

श्वेत और अश्वेत, सभी तरह के बहुत सारे लोगों ने संगठित रूप से इस दास प्रथा का विरोध किया। इसी क्रम में उन्होंने 1776 की अमेरिकी क्रांति की भावनाओं का हवाला देते हुए आह्वान किया : "अमरीकावासियो, अपने घोषणापत्र को देखो! क्या तुम्हें अपनी भाषा भी समझ में नहीं आती?" गेटिसबर्ग में दिए गए अपने अत्यंत भावप्रवण भाषण में अब्राहम लिंकन ने कहा था कि जिन्होंने दास प्रथा के खिलाफ संघर्ष किया है वे लोकतंत्र के पथप्रदर्शक हैं। उन्होंने लोगों से आह्वान किया कि वे नस्ली समानता के लिए कदम उठाएँ ताकि "धरती से 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के लिए सरकार' का नाश न हो।"

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित लोगों ने किन सामाजिक विचारों का समर्थन और प्रसार किया :

   राममोहन रॉय
   दयानंद सरस्वती
   वीरेशलिंगम पंतुलु
   ज्योतिराव फुले
   पंडिता रमाबाई
   पेरियार
   मुमताज़ अली
   ईश्वरचंद्र विद्यासागर

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप रुकैया हुसैन द्वारा स्थापित किए गए एक स्कूल में पढ़ाते हैं। आपकी कक्षा में 20 लड़कियाँ हैं। अपनी कल्पना के आधार पर इस स्कूल में किसी एक दिन हुई चर्चाओं का एक विवरण लिखिए।

2. निम्नलिखित में से सही या गलत बताएँ :

(क) जब अंग्रेज़ों ने बंगाल पर क़ब्ज़ा किया तो उन्होंने विवाह, गोद लेने, संपत्ति उत्तराधिकार आदि के बारे में नए कानून बना दिए।

(ख) समाज सुधारकों को सामाजिक तौर-तरीकों में सुधार के लिए प्राचीन ग्रंथों से दूर रहना पड़ता था।

(ग) सुधारकों को देश के सभी लोगों का पूरा समर्थन मिलता था।

(घ) बाल विवाह निषेध अधिनियम 1829 में पारित किया गया था।

आइए विचार करें

3. प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान से सुधारकों को नए कानून बनवाने में किस तरह मदद मिली?

4. लड़कियों को स्कूल न भेजने के पीछे लोगों के पास कौन-कौन से कारण होते थे?

5. ईसाई प्रचारकों की बहुत सारे लोग क्यों आलोचना करते थे? क्या कुछ लोगों ने उनका समर्थन भी किया होगा? यदि हाँ तो किस कारण?

6. अंग्रेज़ों के काल में ऐसे लोगों के लिए कौन से नए अवसर पैदा हुए जो "निम्न" मानी जाने वाली जातियों से संबंधित थे?

7. ज्योतिराव और अन्य सुधारकों ने समाज में जातीय असमानताओं की आलोचनाओं को किस तरह सही ठहराया?

8. फुले ने अपनी पुस्तक *गुलामगीरी* को गुलामों की आजादी के लिए चल रहे अमेरिकी आंदोलन को समर्पित क्यों किया?

9. मंदिर प्रवेश आंदोलन के ज़रिए अम्बेडकर क्या हासिल करना चाहते थे?

10. ज्योतिराव फुले और रामास्वामी नायकर राष्ट्रीय आंदोलन की आलोचना क्यों करते थे? क्या उनकी आलोचना से राष्ट्रीय संघर्ष में किसी तरह की मदद मिली?

© NCERT not to be republished